कन्द-मूलः भक्ष्याभक्ष्य मीमांसा

संसार के प्रत्येक प्राणी के प्राणों का, जीवन का आधार आहार है। आहार है तो जीवन है, नहीं है तो नहीं है। अतः श्रमण भगवान् महावीर ने इसी सन्दर्भ में कहा था-'**आहारट्ठिया प्राणा।**' वैदिक-परम्परा का भी यही उद्‌घोष है- '**अन्नं वै प्राणाः।**'

अन्य प्राणियों की बात अलग से छोड देते हैं। यहाँ हम मानव के आहार के सम्बन्ध में ही चर्चा करेंगे। क्योंकि मान्व के आहार के सम्बन्ध में विधि-निषेधों की जितनी चर्चा अतीत में हुई है और वर्तमान में हो रही है, उतनी अन्य प्राणियों के लिए कहाँ हुई है?

मानव, केन्द्र है प्राणि जगत् का, उसी के लिए शास्त्र निर्मित हुए हैं, उसी के सुधार के लिए—मंगल-कल्याण के लिए अधिकांश में भगवदात्मा महान् दिव्य पुरुषों की वाणी मुखरित हुई है। उसी के लिए विधि-निषेधों के अनेकानेक व्रत, नियम आदि विहित हुए हैं। मानव शुभाशुभ के, पुण्य-पाप के मध्य-द्वार पर खडा है। उसमें शुभत्व विकसित हो, तो वह सही अर्थ में मानव, मानव मात्र ही नहीं, देव एवं देवातिदेव भी हो सकता है। और, यदि दुर्भाग्य से अशुभ वृद्धि पा जाए, तो वह नरदेह में नर पशु, यहाँ तक कि दैत्य, दानव, पिशाच, राक्षस भी बन सकता है। और आप जानते हैं प्रस्तुत शुभ एवं अशुभ का अधिकांश में क्षेत्र आहार है। जैसा आहार होता है, वैसा मन होता है। जैसा मन होता है, वैसा ही कर्म होता है। और जैसा कर्म होता है, वैसा ही जीवन होता है। जीवन के शुभाशुभत्व का प्रभाव वैयक्तिक ही नहीं रहता है, वह परिवार एवं समाज तक विस्तार पाता है। इस प्रकार व्यक्ति व्यष्टि नहीं, समष्टि है। अन्य प्राणी जहाँ व्यष्टि की क्षुद्र सीमा तक ही अवरुद्ध रहते हैं, वहाँ मानव व्यापक समष्टि तक पहुँचता है। अतः मानव के आहार के सम्बन्ध में, जो

जीवन-निर्माण का प्रमुख हेतु है, आदिकाल से ही शास्त्र-पर-शास्त्र निर्मित होते आ रहे हैं। आहार को धर्माधर्म तक का विराट् रूप मिल गया है।

मानव-आहार के सम्बन्ध में सबसे पहली चर्चा है भक्ष्याऽभक्ष्य की। जो आहार दूसरे प्राणियों की हत्या करके प्राप्त किया जाता है, वह क्रूरता एवं हिंसा से जन्य मांस, मछली, अण्डा अभक्ष्य आहार है। यह बाघ, गीध आदि जंगली हिंस्र पशु-पक्षियों तथा राक्षसों का आहार माना गया है। प्रायः सभी आत्मदर्शी धर्माचार्यों ने उक्त आहार को गर्हित, अतः अभक्ष्य बताया है। अहिंसा प्रधान धर्मों ने मांस आदि उक्त अभक्ष्य आहार की कसकर निन्दा की है, और उसे नरक गमन का हेतु कहा है। मानव अपने दन्त आदि अंगों की दृष्टि से मूलतः शाकाहारी प्राणी है, मांसाहारी नहीं। मानव-हृदय की सहज संवेदनशीलता भी ऐसी अनुकम्पा द्रवित है कि वहाँ मांसाहार कथमपि उपयुक्त नहीं हैं। अन्यत्र हमने इस पर काफी चर्चा की है, अतः प्रस्तुत में हम अपने एक बहुचर्चित विषय पर ही केन्द्रित रहना चाहते हैं।

मांसाहार के निषेधानन्तर शाकाहार आदि की चर्चा है। शाकाहार अर्थात् मुख्यतया वनस्पति-आहार के सम्बन्ध में भी चिन्तन ने काफी स्वच्छ विचार प्रस्तुत किए हैं। लशुन, प्याज आदि कुछ ऐसी वनस्पतियाँ हैं, जो कुछ उत्तेजक हैं, मानसिक वृत्तियों को क्षुब्ध कर देने वाली हैं, अतः तमोगुणी होने से उनका भी शास्त्रकारों ने अमुक अंश में निषेध किया है। रोगादि कारणविशेष में लशुन आदि भी विहित हैं, किन्तु स्वस्थ स्थिति में उत्सर्गरूपेण वर्जित हैं। खासकर जैन और वैष्णव परंपराएँ इनके निषेध पर काफी बल देती हैं। तमोगुण जन्य मादकता का तन और मन दोनों पर ही प्रभाव पड़ता है, अतः तमोगुणी आहार किसी भी रूप में हो उससे बचना ही चाहिए। साधक के लिए तो विशेष रूप से वर्जित है। यही कारण है कि प्राचीन जैन-परम्परा में दूध, दही, मक्खन, घी आदि की भी विकृतियों में परिगणना है, फलतः उनका भी मुक्त भाव से अतिसेवन निषिद्ध है। "**दुद्ध दही विगइओ आहारेइ अभिक्खणं...पावसमणेत्ति वुच्चई।**"

वनस्पति-शाकाहार के सम्बन्ध में आहार की चर्चा ने, जैन-परम्परा में आगे चलकर एक और मोड लिया। वह है वनस्पतिगत जीवों की संख्या का जैन-परम्परा में वनस्पति के जीवों की संख्या से तीन भेद हैं-संख्यात असंख्यात और अनन्त। प्रत्येक वनस्पति आम्र एवं जामुन आदि वृक्ष तथा घीया, तोरई और [illegible] कुछ संख्यात की गणना में आते हैं और कुछ असंख्यात की गणना में। भूमि में [illegible] होने वाले शकरकन्द, गाजर मूली आदि कन्दमूल अनन्त जीवों की वनस्पतियाँ हैं।

अतः प्रत्येक वनस्पति तो भक्ष्य की गणना में है, और अनन्तकाय कन्द मूल अभक्ष्य की गणना में। परन्तु जीवों की न्यूनाधिक संख्या का यह भक्ष्याभक्ष्य-सम्बन्धी विचार प्राचीन आगमकाल का न होकर उत्तरकाल का है।

जैन-धर्म निवृत्ति पर बल देता है। अतः वह साधक को इच्छा-निरोध के लिए प्रेरित करता है। भोगापभोग की जितनी कम इच्छा एवं अपेक्षा होगी, उतने ही उसके तत्सम्बन्धित राग-द्वेष के विकल्प कम होंगे। फलतः आश्रव एवं बन्ध का दायरा कम होगा, और संवरं एवं निर्जरा का दायरा बढ़ेगा। आश्रव एवं बन्ध अधर्म हैं। उसके विपरीत संवर एवं निर्जरा धर्म हैं, मोक्ष का मार्ग है। यहाँ तक तो ठीक है। साधक को अपनी आहारेच्छा पर, जितना भी हो सके, नियन्त्रण करना ही चाहिए। परन्तु यह नियन्त्रण इच्छा एवं आसक्ति के आधार पर होना चाहिए, न कि निषेध के अति उत्साह में भक्ष्याभक्ष्य जैसे शब्दों के आधार पर। मांस आदि के लिए तो अभक्ष्य शब्द का प्रयोग उपयुक्त है, किन्तु जीवों की गणना के आधार पर वनस्पति-आहार के लिए उक्त शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं है।

बात यह है कि जो अभक्ष्य है, वह अभक्ष्य ही है, कस्तुरी मुक्तापिष्टि आदि के रूप में कुछ अमुक आपवादिक स्थितियों को छोडकर। हल्दी, सौंठ, अदरक आदि स्पष्ट ही अनन्त काय कन्दमूल हैं। प्रश्न है, कन्दमूल को एकान्त अभक्ष्य कहने वाले और उपयोग न करने वाले हल्दी आदि का उपयोग मुक्त रूप से कैसे करते हैं? गृहस्थ ही नहीं, साधु-साध्वी भी करते हैं। समाधान दिया जाता है कि वे शुष्क अर्थात् सूख जाते हैं, तब अचित्त होने से उपयोग में लिए जाते हैं। मैं पूछता हूँ, क्या पक होने और सूख जाने पर अभक्ष्य, भक्ष्य हो जाता है। बात कडवी है, पर सत्य की स्पष्टता के लिए कहना ही होगा कि तब तो मांस आदि अभक्ष्य भी पक जाने या सूख जाने पर भक्ष्य हो जाएँगे। किन्तु ऐसा है नहीं। अतः स्पष्ट है कि अनन्तकाय कन्दमूल वनस्पतियाँ, अनन्त जीवात्मक होने के नाते अभक्ष्य नहीं हैं। अभक्ष्य की मान्यता वाले अनन्त काय हल्दी, अदरक आदि कन्दमूल को, गीले या सूखे किसी भी रूप में नहीं खा सकते है।

असंख्य और अनन्त की गणना में क्या अन्तर है? असंख्य में यदि एक संख्या भी बढ़ जाए, तो वह असंख्य से अनन्त की परिधि में आ जाता है। इसलिए अन्य दर्शन असंख्य और अनन्त में कोई भेद नहीं करते हैं। प्रश्न है, असंख्य तक तो भक्ष्य है, और मात्र एक जीव की वृद्धि होते ही वह अभक्ष्य कैसे हो गया। आग्रह नहीं, चिन्तन

अपेक्षित है, वनस्पति सम्बन्धी भक्ष्याभक्ष्य विचार के लिए।

जैन-धर्म का अहिंसा एवं हिंसा सम्बन्धी चिन्तन प्राणिगत चेतना के आधार पर है। विकसित चेतना वाले स्थूल प्राणी की हिंसा में जो तीव्रता है, वह अल्प चेतना वाले प्राणी की हिंसा में नहीं है। जीवों की संख्या की न्यूनाधिकता पर हिंसा की तीव्रता मन्दता आधारित नहीं है, जैसा कि समझा जा रहा है। वह तो जीवों की न्यूनाधिक चेतना और उनकी हिंसा करनेवाले व्यक्ति के भावों की उग्रता मन्दता आदि पर आधारित है। इसीलिए आचार्य सोमदेव आदि ने कहा है कि कृषक खेत आदि में हिंसा करता हुआ भी हिंसा-जन्य पाप का उतना पात्र नहीं है, जितना कि मत्स्य बन्धक धीवर बाहर में हिंसा नहीं करता हुआ भी पाप का भागी है। ऐसा ही भाव आचार्य अमृतचन्द्र ने अन्य उदाहरणों के आधार पर, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में दर्शाया है।

जीवों की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर हिंसा-अहिंसा की मान्यतावाले जैन नहीं हस्तितापस थे, जिनका वर्णन जैनागमों में भी मिलता है। ये तापस कहते थे कि वनस्पति एवं अन्न आदि खाते हैं, तो बहुत अधिक जीवों की हिंसा हो जाती है, अतः हाथी तथा हाथी जैसा एक विशालकाय प्राणी मार लें तो कम हिंसा होगी। एक प्राणी कई व्यक्तियों की, कितने ही दिनों तक की भूख निवारण में काम आता रहेगा। उक्त मत का जैन-दर्शन ने प्रचण्डता से खण्डन किया है। अतः कन्दमूल को वनस्पति जीवों की अधिक संख्या के आधार पर एकान्त अभक्ष्य बताने वाले महानुभावों को उपर्युक्त चिन्तन पर विचार करना चाहिए कि कहीं वे भ्रमवश हस्तितापसों के विचार पक्ष में तो नहीं जा रहा है?

मैंने पूर्व में कहा है कि प्राचीन आगम युग में वनस्पति-आहार के सम्बन्ध में जीवों की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर भक्ष्याऽभक्ष्य की चर्चा नहीं है। कन्दमूल की अचित्त परिणति होने पर पूर्वकाल में उसे मुनि भी ग्रहण करते थे, आगमसाहित्य में अनेकशः उल्लेख मिलते हैं, इस सम्बन्ध में।

दशवैकालिक सूत्र आचार-शास्त्र का मूर्धन्य शास्त्र है। आचारांग से पूर्व भिक्षु-आचार के परिबोध के लिए, दशवैकालिकसूत्र के अध्ययन का ही व्यापक प्रचलन है। अतः यहाँ साक्षी के रूप में अन्यत्र दूर न जाकर दशवैकालिक का ही साक्ष्य प्रस्तुत किया जा रहा है।

मेरे समक्ष टीका, दीपिका, अवचूरि तथा गुजराथी टब्बा के साथ दशवैकालिक सूत्र का बहुत पुरातन मुद्रित संस्करण है। यह संस्करण, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा

के चुस्त श्रावक श्री भीमसिंह माणकजी (बम्बई) द्वारा विक्रम संवत् १९५७ तथा सन् १९०० में प्रकाशित है। कन्दमूल के सम्बन्ध में एकान्त अभक्ष्य की मान्यता का आग्रह, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा को ही प्रायः सर्वाधिक है। अतः अन्य प्रकाशनों को छोड़कर हम यहाँ इसी परंपरा के पुरातन प्रकाशन को उपस्थित कर रहे हैं। मूल-सूत्र है, सातवीं-आठवीं शती के सुप्रसिद्ध श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रजी की टीका है, और प्राचीन गुजराथी बालावबोध (टब्बा) है। विस्तार भय से दीपिका और अवचूरि का पाठ छोड़ दिया है। ये दोनों आचार्य हरिभद्रीय टीका का ही अनुसरण करते हैं, अतः अलग से इनकी यहाँ उपादेयता भी नहीं है।

कंदे मूले य सचित्ते फले बीए य आमए ॥३।७॥

कन्द, मूल, फल और बीजे कच्चे सचित साधु न ले। लेता है तो अनाचीर्ण है, दोष है।

कन्दो वज्र कन्दादि, मूलं च सट्टामूलादि सचित्तमनाचरितम्। तथा फलं त्रपुष्यादि, बीजं च तिलादि आमकं सचित्तमनाचरितमिति सूत्रार्थः।

—आचार्य हरभद्रजी की टीका

'कन्दः' एटले वज्रादि कन्द, तथा 'मूलम्' एटले मूल, ए बे वस्तु सचित्त वापरावी, ते अनाचरित।......आमम् एटले लीलूं कांचुं, एवां फलं, ते कर्कटी आदिक फल, अने तिलादिक बीज, ए बे लीलां कांचा वापरावां, ते क्रमें करी आडत्रीशमुं तथा ओगण चालीशमुं अनाचरित जाणवुं।

—गुजराथी बालावबोध

उपर्युक्त मूल, टीका और बालावबोध पर से स्पष्ट है कि साधु के लिए कन्द, मूल, फल, बीज आदि सचित्त कच्चे अनाचीर्ण हैं, अचित्त पके हुए नहीं :

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं च सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए॥५।१।७०॥

—कन्द, मूल, फल, पत्रशाक, तुम्बाक-दूधी धीया, अदरक आदि- यदि कच्चे सचित्त हों तो साधु ग्रहण न करे, त्याग दे।

... ... कन्दं सूरणादि लक्षणम्। मूलं विदारिकादि रूपम्। प्रलंबं वा तालफलादि। आमं छिन्नं वा सन्निरम्। सन्निरमिति पत्रशाकं तुम्बाकं त्वग्मजान्तर्वर्ति। आर्द्रां वा तुलसीमित्यन्ये। श्रृङ्गबेरं चार्द्रकम्। आमं

परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः।

आचार्य हरिभद्रजी की टीका

... ... सूरण बिगेरे कन्द, विदारिकादि मूल, अथवा प्रलंबं एटले तालादिकना फल। अने आमं कांचुं अथवा छिन्नं छेद्युं एवं सन्निरं पत्रशाक तथा तुंबागं तूंबडूं दूधियुं, ते ने तथा शृंगबेरं एटले आदूं एटला वानां आमकं एटले काचां सचित्त होय तो तेने परिवर्जयेत् त्याग करे।

—गुजराथी बालावबोध

उपर्युक्त उल्लेखों के सिवा दशवैकालिक के पंचम अध्ययन (द्वितीय उद्देशक, गा० २७-२८) में शालूक आदि कन्दों के नामोल्लेखपूर्वक पुनः कन्द मूल की चर्चा है, और अन्त में **'आमगं परिवज्जाए'** उन्हीं पूर्वोक्त शब्दों में कच्चे, सचित्त कन्द-मूल खाने का निषेध किया है। पक्व एवं अचित्त के खाने का आगम में कहीं पर भी निषेध नहीं है।

उपर में दशवैकालिक सूत्र के आधार पर जो कन्द-मूल आदि का वर्णन किया गया है, उस पर से एक और बात पर भी ध्यान देने जैसा है। कन्द के साथ अन्य फल, शाक, बीज, तथा इक्षुखण्ड आदि का भी उल्लेख है। सूत्रकार तथा टीकाकार आदि ने कन्द-मूल तथा फल आदि का भक्ष्य तथा अभक्ष्य के रूप में वर्गीकरण नहीं किया है। सामान्यरूप से वनस्पति का वर्णन है। अतः स्पष्ट है कि सूत्रकार आदि को सामान्य रूप से मात्र सचित्त वनस्पति का निषेध ही अभीष्ट है, कन्दमूल को अभक्ष्य कहना और उन्हें सचित्त तथा अचित्त दोनों ही रूपों में निषिद्ध करना, अभीष्ट नहीं है।

जैन संघ में श्वेताम्बर परंपरा के समान ही एक महत्त्वपूर्ण दिगम्बर परंपरा भी है। दिगम्बर मुनि उग्र आचार एवं कठोर क्रियाकाण्ड का विशेष पक्षधर है। अतः प्रस्तुत में हम कन्द-मूल के भक्ष्याभक्ष्य के सम्बन्ध में उक्त परम्परा के विचार भी जिज्ञासुओं के लिए उपस्थित कर रहे हैं।

आचार्य वट्टकेर स्वामी दिगम्बर-परम्परा के प्राचीन महान् श्रुतधर आचार्य हैं। मुनिधर्म के वर्णन में उनका प्राकृत भाषानिबद्ध **'मूलाचार'** ग्रन्थ आचारशास्त्र का प्रतिनिधि शास्त्र है। श्वेताम्बर-परम्परा के आचारांग सूत्र के समान ही दिगम्बर-परम्परा में मूलाचार का बहुमान पुरःसर प्रामाण्य है। मूलाचार के अनेक उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र एवं श्री भद्रबाहु स्वामी की आवश्यक निर्युक्ति के उल्लेखों

के साथ शब्दशः एवं अर्थशः मिलते हैं, जो उनकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के स्पष्टतः उद्घोषक हैं।

मूलाचार का, सन् १९१९ में मुनि अनन्तकीर्ति दिगम्बर ग्रन्थ माला द्वारा प्रकाशित संस्करण, मेरे समक्ष है। पं० श्री मनोहरलालजी शास्त्री का सम्पादन है, हिन्दी टीका है। नवम अनगार भावनाधिकार में मुनि के आहार की चर्चा है। आचार्य वट्टकेर, मुनि के लिए कन्द, मूल, फल आदि अपक्व—कच्चा खाने का निषेध करते हैं, पक्व का नहीं।

''फल-कन्द-मूल बीयं, अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं, णवि य पडिच्छन्ति ते धीरा ॥८२५॥''

—अग्नि पर नहीं पके, ऐसे फल, कन्द, मूल, बीज तथा अन्य भी जो कच्चा पदार्थ, उसको अभक्ष्य जान कर वे धीर-वीर मुनि खाने की इच्छा नहीं करते।

जं हवदि अणिव्वीयं, णिवट्टियं फासुयं कपं चेव।
णाऊण एसणीयं, तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति ॥८२६॥

—जो निर्बीज हो और प्रासुक किया गया हो, ऐसे आहार को खाने योग्य समझ कर मुनिराज उसके लेने की इच्छा करते हैं।

उक्त गाथाओं पर से स्पष्ट है कि मुनि कन्द, मूल आदि प्रासुक हों, तो उन्हें अशनीय (खाने योग्य) समझ कर आहार में ले सकता है। अनशनीयता के रूप में कन्दमूल का निषेध अपक्वता से सम्बन्धित है, पक्वता से नहीं।

दशवकालक सूत्र के समान ही यहाँ मूलाचार में भी कन्द, मूल का फल और बीज आदि के साथ सामान्यतया वनस्पति के रूप में उल्लेख है। प्रत्येक वनस्पति से भिन्न, निषेध के लिए अभक्ष्य रूप में पृथक् उल्लेख नहीं है।

मैं समझता हूँ, अनाग्रह की यथार्थ दृष्टि के जिज्ञासु, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही, उक्त आगम कालीन प्राचीन स्पष्ट उल्लेखों पर से कन्द, मूल की भक्ष्याभक्ष्य से सम्बन्धित विचार धारा का मर्म समझ जाएंगे और व्यर्थ के कदाग्रहों से अपने को अलग रखेंगे। प्रत्येक साधक की मान्यता और सिद्धान्त के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। अनेक प्रचलित मान्यताओं से सत्य कहीं परे होता है। उसे अनाग्रही साधक ही देख सकते हैं आग्रही नहीं—**'सत्यमेव जयते।'**

क्या आलू सचमुच में कन्द है?

आलू के सम्बन्ध में अलग से चर्चा कर रहा हूँ। बात यह है कि प्रान्तभेद से जैन-समाज में आलू खाया जाता है, कहीं नहीं भी खाया जाता। खास कर गुजराथ में नहीं खाया जाता। खाना और न खाना एक अलग बात है। परन्तु आलू को अनन्त काय कन्द मान कर उसे अभक्ष्य कहना और खाने वालों को घृणा की दृष्टि से देखा, यह युक्त नहीं है।

आलू विदेशों से आया है। वह कन्द की श्रेणि में नहीं आता। वह जड़ नहीं है अपितु तने में लगने वाला फल विशेष है। आलू भूमि से ऊपर भी तने में लग सकता है। वह भूमि में नहीं पैदा होता। उसकी सुरक्षा एवं विकास के लिए मिट्टी अलग से ऊपर में दी जाती है। और उस मिट्टी की तह के नीचे वह विकास पाता है। यह बात साधारण वनस्पति-परिचय की पुस्तकों में भी देखी जा सकती है। स्थूल दृष्टि से ही भूमिगत होने की बात कही जाती है, जैसे कि काफी समय तक मूंगफली (सींगदाना) को भी भूमिगत होने के कारण व्यर्थ ही कन्द के रूप में वर्जित करते रहे हैं।

वस्तुस्थिति को सांगोपांग रूप से स्पष्टतया समझना आवश्यक है। व्यर्थ के पूर्वाग्रहों के आधार पर कुछ-की-कुछ कल्पना कर लेना और उस पर धार्मिक विग्रह एवं कलह खड़े कर देना, कथमपि उचित नहीं है। आलू को कन्द समझ लेने और मान लेने के सम्बन्ध में इसी प्रकार का व्यर्थ विग्रह चल रहा है।

नई दुनिया, इन्दौर का दिनांक ९-१२-८३ का अंक अभी-अभी एक धर्म बन्धु ने मुझे दिखाया है। उसके एक समाचार पर से आलू की स्थिति काफी स्पष्ट हो जाती है। लिखा है —

''मनीला के वैज्ञानिकों ने टमाटर और आलू के पौधे को मिलाकर 'पोमाटो' नामक एक नया पौधा तैयार किया है, जिस पर आधे टमाटर और आधे आलू की शक्ल के फल लगते हैं।''

वैज्ञानिकों की यह शोध, स्पष्ट रूप से टमाटर के समान ही आलू को भी एक फल विशेष ही प्रमाणित करती है। यदि आलू मूल में सचमुच ही कन्द होता, तो टमाटर के साथ वह फल के रूप में कैसे विकास प्राप्त करता?

आलू आदि-कन्द मूल के खाने के सम्बन्ध में मेरा कोई भी व्यक्तिगत आग्रह नहीं है। मैं नहीं कहता कि खाना ही चाहिए। जो साधक अपनी इच्छा का निरोध कर कन्द-मूल या शाक-सब्जी आदि का जो भी त्याग करते हैं, मैं उनका अनुमोदन करता हूँ। प्रस्तुत चर्चा पर से मैं केवल एक ही बात स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जो भी विधि या निषेध हो, वह प्रामाणिक हो, शास्त्रीय आधार पर हो। अपनी कल्पित मान्यता के आधार पर, शास्त्र-द्वारा प्रमाणित मौलिक सत्य का अपलाप करना और पारस्परिक निन्दा के वितण्डावाद में उलझना ठीक नहीं है।